

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३९ अंक-१८७, वर्ष-१६, अप्रैल-२०१३

कारतक वद २, गुरुवार, दि.१६-११-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत,  
वचनामृत-३८२ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - १५२

गतांक से चालू...

कहते हैं कि, उत्पाद-व्यय-ध्रुव जो है उन तीनों का विचार छोड़कर एक ध्रुव की ओर जा। जहाँ कायम बिंब पड़ा है। जिनबिंब। भगवानआत्मा ध्रुव तो जिनबिंब है। वीतरागबिंब है। आहा..हा..! साक्षात् भगवान शक्तिसमूह पिण्ड है। वह भगवानस्वरूपी प्रभु आत्मा है। आहा..हा..! अरे..! इसका विश्वास कब आये? आहा..हा..! यह ध्रुव वस्तु पर दृष्टि लगाने से इसका भरोसा, विश्वास सम्यग्दर्शन होता है। इसके बिना सब व्यर्थ हैं। आहा..हा..! यह शास्त्र में ऐसा आया कि, उत्पाद-व्यय-ध्रुव सो आत्मा है, वह सत् है। आहा..हा..! जबकि ध्रुव में अनन्तगुण भरे हैं। किन्तु भरे हैं यह प्रतीतमें आये बिना भरे हुए हैं, यह कैसे आये? सो तो केवल धारणाज्ञान में लिया इतना ही। समझ में आया? आहा..हा..!

यह त्रिकाल ध्रुवस्वरूप जो अनन्त गुण से भरा है, उसे ध्येय बनाकर वहाँ स्थिर हो जा। दृष्टि को वहाँ स्थापित कर। क्योंकि स्थिर है जब तो दृष्टि वहाँ टिकती है। पर्याय अस्थिर है अतः दृष्टि उसपर नहीं टिकती। इसलिये पर्याय की दृष्टि छुड़ाकर... आहा..हा..! उसमें पर्याय है लेकिन वह तो अस्थिर व पलटती दशा है। ऐसा कहा न? पलटती हुई पर्याय पर दृष्टि लगाने से दृष्टि कहाँ जमती है? आहा..हा..! जो ध्रुव है... आहा..हा..! अरे..! के आठ-आठ साल की उम्र के राजकुमार, चक्रवर्ती के पुत्र, तीर्थकर के पुत्र जो समकित को प्राप्त करते हैं, बापू! ध्रुव पर झपट लगाई अंतर में। आहा..हा..! और जैसे ही आनंद आया.. आहा..हा..! इसके सिवा सब रुखा लगे; राज-पाट सब रुखा (लगे)। आहा..हा..!

अनन्तानन्त गुणों से भरा ध्रुव प्रभु, उस ध्रुव में दृष्टि लगाने पर, उस शक्ति में से अनन्त गुणों की व्यक्तता प्रगट हुई, आनंद का स्वाद आया। आहा..हा..! वह सुनने से नहीं आया। आहा..हा..! आठवीं गाथा में तो ऐसा कहा न? मैं निश्चय और व्यवहार को जाननेवाला दो रथ.. ऐसा आचार्य कहते हैं। जिसे आत्मा कहो वह कहता है अथवा दूसरा भी कहता है। निश्चय आत्मा का आश्रय है और विकल्प में व्यवहार में आया है। वे कहते हैं कि, भाई! दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा। वह आत्मा जो दर्शन ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हुआ। ऐसा भेद बताया। और शिष्य ने सुना भी सही। समझमें आया? परन्तु कहा कि मैंने भेद से कहा वह मुझे भी अनुसरण करनेयोग्य नहीं है और तुझे भेद द्वारा सुनाता हूँ लेकिन तुझे भी भेद अनुकरण करनेयोग्य नहीं है; आहा..हा..! मैं भेद से सुनाता हूँ, तो मुझे भी अनुकरण करनेयोग्य नहीं है। जाननेलायक है। अनुकरण तो द्रव्य का करना है। आहा..हा..! और तुझे भी तेरे अनुग्रह के कारण भेद से कहा, उससे तेरा कल्याण होगा...आहा..हा..! ऐसा नहीं है।



जहाँ भगवान ध्रुवरूप अंतरमें विराजमान हैं.. वह कहते हैं न? देखो! 'अनन्त गुणरत्नों के कमरे भरे हैं' आहा..हा..! कमरे भरे हैं। कमरे कमरे। ये आपकी हिन्दी भाषामें कमरा कहा। हमारी गुजराती भाषा में 'ओरडा' कहते हैं। आहा..हा..! एक-एक कमरे में अनन्तशक्ति, अनन्ती पर्याय की ताकत एक-एक गुणमें (भरी है)। अनन्त शक्ति और अनंत पर्याय, दो बातें ली। देखो! भाई! 'नियमसार'में दो-तीन जगह एक-एक गुण में अनन्त शक्ति व अनन्त पर्याय हैं। ऐसी बात ली है। अनन्त शक्ति वर्तमान। आहा..हा..! 'चिद्विलास'में लिया है। पता है? नहीं। 'चिद्विलास'में दो-तीन जगह हैं।

भगवानआत्मा जिसमें अनन्त गुण के कमरे। यानी कि एक-एक गुण में अनन्त ताकत है। अनन्त गुण का रूप वह अनन्त ताकत है। अपनेमें रहना और पर से नहीं होना अन्य गुण से नहीं, अनंत गुण से नहीं अपने में रहने की अनन्त ताकत एक-एक में है। और पररूप नहीं हो जाना फिर भी पर का रूप होना... आहा..हा..! भगवान ज्ञान के कमरे। ये तो कमरे बताये न? एक गुण के अनन्त कमरे। इसतरह एक-एक गुणमें अनन्त गुणों का इसमें अभाव, ऐसा नास्तित्वधर्म एकमें। और एक-एक गुणमें अनन्त गुणों का रूप-अस्तित्व। आहा..हा..! क्या कहा? आहा..हा..!

'उसमें अनन्त गुणरत्नोंके कमरे भरे हैं।' एक-एक गुण के कमरे, आहा..हा..! ऐसे अनन्त गुण के कमरे। एक-एक आत्मामें अनन्त गुण और प्रत्येक गुणमें अनन्तरूप और एक-एक गुणमें अनंतगुण का नास्तिभाव है। आहा..हा..! अनन्त हुआ न? भाई एक गुण में अनन्त। एक गुण अनन्त गुणरूप नहीं है ऐसा नास्तित्व और एक गुण में अनन्त गुण का रूप। ज्ञान है तो अपने आप से है ऐसा अस्तित्व रूप। अस्तित्वगुणरूप नहीं, अस्तित्वगुण का उसमें अभाव है। आहा..हा..! परन्तु ऐसा ज्ञान है, ऐसा अस्तित्वरूप अपने से है। ऐसी बातें बहुत कठिन बापू! द्रव्य-गुण-पर्याय की भी अभी तो खबर नहीं।

'उसका नित्यस्थायी स्वरूप रीता नहीं, पूर्ण भरा हुआ है।' क्यों? 'उसमें अनन्त गुणरत्नों के कमरे भरे हैं।' आहा..हा..! अनन्त गुणरूपी कमरे,

उसमें एक-एक गुण अनन्त शक्तिरूप कमरा है। है कि नहीं? आहा..हा..! और वह चिद्विलास में लिया है, भाई! आगे एक बार बात चल चूकी है। एक-एक गुणमें अनन्त शक्ति और एक-एक गुण में अनन्त पर्याय। ये दोनों बोल अलग लिये हैं। समझ में आया? 'चिद्विलास' नहीं है। आहा..हा..! एक-एक गुण ऐसे अनंत गुण। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण। और प्रत्येक गुण में अनन्त शक्ति। परगुणरूप नहीं हो जाना। परगुण के अभावरूप रहना। जबकि परगुण का जो स्वरूप है उस रूप रहना। आहा..हा..! परगुणरूप नहीं रहना। परन्तु अस्तित्वगुण आदि पररूप अपने में रहना। ऐसा अस्तित्व अनंत गुणोंका। आहा..हा..! प्रत्येक गुण में उसका रूप और अनन्त गुणों की नास्ति। आहा..हा..! ऐसे प्रत्येक गुण में अनन्त-अनन्त शक्ति व सामर्थ्य है। आहा..हा..! यह चैतन्यचमत्कार है। आहा..हा..! किन्तु दृष्टि पर्याय पर होने से वस्तु भीतर में समीप होने पर भी इससे अनजान है। आहा..हा..! उत्पाद-व्यय की दृष्टि से... आहा..हा..!

'समयसार' की दूसरी गाथामें आया न। 'केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योति का उदय होने से...' आहा..हा..! दूसरी गाथामें आया है। केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण राग से भिन्न, पर्याय से भिन्न, आहा..हा..! ऐसा जो भेदज्ञान वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। शास्त्रज्ञान। श्रवणभूत विषय का ज्ञान हुआ इसलिये केवलज्ञान का कारण है, ऐसा है नहीं। आहा..हा..! गुरुने कहा, हमारे पर अनुग्रह करके, कृपा करके हमें शुद्धात्मा का उपदेश दिया। वह लक्षमें आया, परन्तु इससे आत्माका ज्ञान हो गया (सो बात नहीं है)। आहा..हा..! अरे..रे..! इतना दुष्कर। चलनेवाले को चलना है, दिखानेवाले ने अंतर में दिखाया। कि, यह... यह... यह... यह... (वस्तु है)। समझ में आया? तेरा ध्रुव भगवान अंतर में है न, भाई! अनन्त... अनन्त गुणों का रूप तेरा है न। अरेरे..! सुनने को मिले नहीं जीवको। इसकी महिमा का पता नहीं जीवको। आहा..हा..!

'उसमें अनन्त गुणरत्नों के...' गुणरत्नों। 'कमरे भरे हैं।' आहा..हा..! हमारी गुजराती भाषा में 'ओरडा' है। गुजराती है भाई! कमरा मतलब 'ओरडा'।

आहा..हा..! 'उस अद्भुत ऋद्धियुक्त...' आहा..हा..! 'उस अद्भुत ऋद्धियुक्त नित्य स्वरूप पर दृष्टि दे...' आहा..हा..! देखो! सार आया। पहले ऐसा कहा कि वस्तु है सो उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्तं सत् है। अब जो ध्रुव है वह स्थायी है। पर्याय पलटती है। पर्याय पलटती है जबकि यह स्थायी है। स्थायी है, स्थिर है तो उसमें वह खाली नहीं है। वह तो भरा हुआ है। अनन्त... अनन्त... अनन्त गुणों की ऋद्धि से भरा है। आहा..हा..! ऐसा 'अद्भुत ऋद्धियुक्त...' नित्य स्वरूप पर दृष्टि दे। आहा..हा..! ऐसा जीव को प्रथम ज्ञान कराया। किन्तु दृष्टि देनी तो उसे ही है न? आहा..हा..! दृष्टि दे ऐसा कहने मात्र से उसे दृष्टि हो जाये ऐसा थोड़ी है?

मुमुक्षु :- ...

पूज्य गुरुदेवश्री :- वैसे नहीं, नहीं। फिर उस पर लक्ष ही नहीं रहता। वह ख्याल में आया उतना, बस!

यह भगवानआत्मा ध्रुव पर दृष्टि दे, प्रभु! आहा..हा..! तेरे कल्याण का, सुख का पंथ प्रगट होगा। सुख का भण्डार भगवानआत्मा, अतीन्द्रिय आनंद का भण्डार। एक गुण नहीं परन्तु ऐसे-ऐसे अनंतगुणों का भण्डार। आहा..हा..! पर्याय को, दृष्टि को वहाँ स्थापित कर एसे। बाद में उत्पाद-व्यय पर्यायें ली। द्रव्य में अनन्त गुणों का भण्डार भरा है। वहाँ पर्याय नाम दृष्टि को स्थापित कर। यह दृष्टि उत्पाद-व्यययुक्त है। आहा..हा..! ऐसी बात है, बापू! जैनदर्शन को समझना यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू! जैनदर्शन यह कोई पक्ष नहीं है, संप्रदाय नहीं है, वस्तु का स्वरूप (हैं)। आहा..हा..! यह वस्तु जिनस्वरूप... आहा..हा..! उसमें दृष्टि दे तो जैन हो जाओगे। आहा..हा..! जिन पर दृष्टि देगा तो जैन हो जाओगे। आहा..हा..! इसके सिवा हम तो जैन हैं... हम तो जैन हैं... चाहे कुछ भी नाम देवे नहीं, आहा..हा..!

सो तो कहा न? कि, 'घट-घट अंर जिन बसे और घट-घट अंतर जैन। लेकिन मत मदीरा के पान सो...' पर्यायबुद्धि, व्यवहारबुद्धि, निमित्तबुद्धि, ये सब मतवाले अभिप्रायवाले... आहा..हा..! 'मत मदीरा के पान सो मतवाला समझे न।' आहा..हा..! ऐसा मार्ग होने से लोग एकांत है ऐसा कहकर दुर्लभ कर देते

हैं, भाई! वह दृष्टि आयी, पर्याय आयी न साथ में? पलटती पर्याय को जिसमें भण्डार भरे हैं उसमें स्थापित कर। आहा..हा..! यह पर्याय आ गई। आहा..हा..! पर्याय पर जो दृष्टि है उस पर्याय को द्रव्य पर स्थापित कर। आहा..हा..! बहुत सूक्ष्म, भाई! आहा..हा..! किन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, प्रभु! क्या करे? आहा..हा..! और तो और मजाक करते हैं कि सूक्ष्म-सूक्ष्म कहकर आपको जैसे समझ में नहीं आयेगा। सूक्ष्म-सूक्ष्म कहकर। वे ऐसा कहते हैं। वह आया था। सरल है उसे सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं। बापू! वह सूक्ष्म स्वयं ही भगवान स्वयं ही सूक्ष्म है न। आहा..हा..! अरूपी प्रभु! आहा..हा..! शुभभाव को तो स्थूल परिणाम कहा है। कहीये स्थूल उपयोग जो दया, दान, व्रत, भक्ति उसे तो स्थूल परिणाम कहे हैं। है तो जीव के विकारी पर्याय। परन्तु परलक्षवाली होने से स्थूल परिणाम हैं। भगवान इससे सूक्ष्म है। उससे नहीं जानने में आयेगा। आहा..हा..! वह स्थूल परिणामों से नहीं पकड़ में आयेगा। जो परिणाम शुभ है उसकी दशा की दिशा पर तरफ है। जबकि स्वभाव की दशा की दिशा स्व तरफ है। वहाँ दृष्टि को स्थिर कर। आहा..हा..! ऐसा है।

'उस अद्भुत ऋद्धियुक्त नित्य स्वरूप पर दृष्टि दे तो तुझे संतोष होगा...' संतोष नाम आनंद होगा। आहा..हा..! 'तो तुझे संतोष होगा।' आनंद होगा आहा..हा..! जहाँ भंडार भरा है वहाँ दृष्टि स्थापित कर, तुझे आनंद होगा। पर्याय पर दृष्टि देने से तुझे दुःख होगा। आहा..हा..! पीछे पेरोग्राफ सब बहुत सुंदर हैं। ३७६, ३७७, ३७८... आहा..हा..!

'तुझे संतोष होगा कि,...' क्या संतोष होगा? 'कि मैं तो सदा कृत्यकृत्य हूँ।' वस्तु अपेक्षा तो कृत्य-कृत्य ही है। उसे कार्य करना पड़ता है (सो बात नहीं है)। वस्तु तो त्रिकाल कृत्यकृत्य ज्ञायक है। आहा..हा..! कृत्यकृत्य है। आहा..हा..! 'मैं तो सदा कृत्यकृत्य हूँ' कौन? द्रव्य, हैं। मैं वह। पर्याय ऐसा कहती है कि, मैं यह जो द्रव्य हूँ सो तो कृत्यकृत्य हूँ। आहा..हा..! ऐसी बातें! बापू! आहा..हा..! अरे! भगवान का विरह हो गया। यह भगवान रह गया। कहते हैं। एक पेरोग्राफ में कितना (भरा है)। सहज आया है। यह कोई लिखा नहीं है, लिखाया नहीं है।

आहा..हा..! अरे..! बेटियाँ, बहिनों ने लिख लिया है। आहा..हा..! सो बाहर प्रसिद्धि में आया है, और (भाईने) सब को ठीकठाक किया। आहा..हा..!

‘मैं तो सदा कृत्यकृत्य हूँ।’ कौन? द्रव्य। हँ! संतुष्ट हुई पर्याय ऐसा कहती है। आहा..हा..! पर्याय में जो आनंद आया, श्रद्धा हुई, ज्ञान हुआ, आंशिक स्थिरता हुई, वह ऐसा कहती है कि यह वस्तु तो कृत्यकृत्य है। द्रव्य में कुछ नया करना है या कोई काम जैसे बाकी है सो बात नहीं है। सो तो कृत्यकृत्य ही है। आहा..हा..! अब ‘मैं तो सदा कृत्यकृत्य हूँ।’ आहा..हा..! ‘उसमें स्थिर होनेसे...’ जो द्रव्य वस्तु है, उसकी दृष्टि होनेपर जो आनंद आया, वह आनंद की पर्याय और ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, वह पर्याय ऐसा मानती है, जानती है कि यह मैं द्रव्य सदा कृत्यकृत्य हूँ। आहा..हा..! द्रव्य को कुछ करना बाकी हो तो द्रव्य है? आहा..हा..! मैं कृत्य-कृत्य हूँ ऐसा कौन जानता है? पर्याय। आहा..हा..! यह मैं कृत्यकृत्य हूँ। आहा..हा..! ‘उसमें स्थिर होने से तू पर्याय में कृत्यकृत्य हो जायगा।’ आहा..हा..! देखो! कितना न्याय! समझ में आया? वह भाई का कागज आया है। अपना वह भाई आया था न ‘भावनगर’ का, नहीं?

मुमुक्षु :- ...

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ! भाई ने कहा फिर हमने दिया।

मुमुक्षु :- सिर्फ पुस्तक दे दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह भाई अर्धमागधी के प्रोफेसर। उसका कागज आया। हमने ‘बहिन’ का यह पुस्तक दिया था न? कागज आया है। इतनी खुशी व्यक्त की है। आहा..हा..! अरेरे..! इसमें से निकलना मुझे सुहाता ही नहीं था। मुझे यह पढ़कर मेरी बात तो क्या करूँ? मैं खुशी-खुशी। बड़ा अर्धमागधी का प्रोफेसर है। आहा..हा..! कल कागज आया है। हँ! वहाँ पड़ा होगा। आहा..हा..! अरे! इसमें तो पढ़े-लिखे लोगों का अभिमान हो तो वह भी पिघल जाये ऐसा है। आहा..हा..!

क्या कहते हैं? जो नित्य प्रभु ध्रुव है उसपर दृष्टि लगाने से तुझे पर्याय में सम्यक् आनंद और ज्ञान होगा। और वह पर्याय ऐसा जानती है कि, मैं तो कृत्य-

कृत्य हूँ। वह कृत्य-कृत्य का लक्ष, आश्रय करने पर पर्याय में कृत्य-कृत्यता हो जायेगी। कुछ करना नहीं बचे ऐसा कृत्य-कृत्य हो जायेगा। आहा..हा..! ऐसी बात है। यह दिग्म्बर धर्म। आहा..हा..! यह कोई संप्रदाय नहीं है। आहा..हा..! यह दिग्म्बर धर्म, वह जैनधर्म, वस्तु का धर्म है। आहा..हा..! भाग्यवान को श्रवण का योग हो ऐसी बात है। आहा..हा..!

कहलवाया था मैंने। उसके पिताजी को। कहा? भाई! (आपके लड़के को) कहा था कि तेरे बाप को कहना कि, ये पाँच लाख होना वह भाग्यवान नहीं है। कहा था? तुझे कहा था न! कि, तेरे बाप को बताना कि, पाँच लाख मिल गया इसलिये भाग्यवान नहीं है। परन्तु ये श्रवण के लिये मिला वह भाग्यवान है। ऐसा कहलवाया था। आहा..हा..! वे सोचते हैं कि पाँच लाख मिले इसलिये हम भाग्यवान। ये कई सारे करोड़पति थे, साठ-सत्तर लाखवाले, करोड़पति बहुत से थे। वे भाग्यवान नहीं है, बापा! आहा..हा..! वीतराग की ऐसी वाणी। परम ध्वनि में, दिव्यध्वनि में आयी वह वाणी है यह तो। आहा..हा..! यह वाणी इसके न्याय सहित श्रवण हेतु मिले, आहा..हा..! दुनिया मानो या न मानो, दुनिया चाहे एकांत कहो या कुछ भी कहो! आहा..हा..!

कृत्य-कृत्य है, वस्तु कृत्यकृत्य है। ‘इसमें स्थिर होने से तू पर्याय में कृत्यकृत्य हो जायगा।’ आहा..हा..! द्रव्य में पूर्ण आनंद है। उसमें स्थिर होने से, जम जाने से पर्याय में पूर्ण आनंद प्रगट होगा। करना पड़े और वह कृत्यकृत्य होगा। भगवान में अनन्त ज्ञान है उसमें स्थिर होने से वह पूर्ण ज्ञान है, सो तो कृत्यकृत्य है। उसमें स्थिर होने से पर्याय में कृत्यकृत्यता नाम केवलज्ञान होगा। फिर कुछ करना शेष बाकी नहीं रहेगा। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- भगवान ऋषभदेव ने छः महीने उपवास किये।

पूज्य गुरुदेवश्री :- वे तो उसवक्त आनंद में रहे, आहारका विकल्प नहीं आया, उस अपेक्षासे उपवास कहलाया। वह लिखा है। महान भगवान जैसे ने बारह साल के उपवास किये, तपस्या की। अरे भाई! तू जिसे मानता है वह तप नहीं। भगवानने.. आहा..हा..!

भगवान तो अतीन्द्रिय आनंद में मस्त रहते हैं। छः महीने तक आहार लेने का विकल्प नहीं आया। और आहार नहीं आने का योग भी वैसा ही था। वे आनंद में रहते हैं। वह आनंद जो उभरकर बाहर आया, प्रतपंत इति तपः भगवान अनन्त गुणों का पिण्ड स्वयं पर्याय में अनन्तानन्त शांति, आनंद लेकर जो दशा अंदर में जमती है। चारित्र से भी उग्र पुरुषार्थ है उसका नाम तप है। आहा..हा..! सम्यग्दर्शन के बिना तो अभी होता है सब लंघन है। उपवास-बपवास सब लंघन हैं। उपवास नहीं है, सो तो 'अपवास' है। आहा..हा..!

'उप' नाम भगवान के समीप अंतर में वास करना। आहा..हा..! पूर्णानंद का नाथ अनन्त आनंद और अनन्तगुण की ऋद्धि से संपन्न, प्रभु! आहा..हा..! इसके समीप जाकर बसना, उसका नाम उपवास है। वरना इसके भान बिना रागादि है सो तो अपवास-माठावास है। रागमें जिसका निवास है। आहा..हा..! आदमी को कठिन लगे। सो तो हरएक संप्रदाय को बुरा लगता है। स्थानकवासी, देरावासीको तो पड़े ही पड़े। क्योंकि उनके शास्त्र ही व्यवहारप्रधान हैं। किन्तु ये दिगम्बरों के शास्त्र में ऐसा भरा है इसका उसे पता तक नहीं। लोग बिना दरकार जो करते हैं उसीमें लगे रहते हैं।

आहा..हा..! चरणानुयोग में ऐसा कहा है और करणानुयोग में ऐसा कहा है। सबने कहा। आहा..हा..!

चारों अनुयोग का सार तो वीतरागता है। यह 'पंचास्तिकाय' की १७२वीं (गाथामें कहा है)। वीतरागता कब होती है? कि वीतराग जिनबिंब प्रभु है उसकी दृष्टि करने पर, स्थिरता करने पर वीतरागता होगी। आहा..हा..! जिसमें वीतरागता भरी है। आहा..हा..! (उसकी दृष्टि करनेपर) तेरी पर्याय में वीतरागता प्रगट होगी। और वीतरागी पर्याय तो जानती है कि मैं तो पूर्ण कृत्य-कृत्य हुआ। सम्यग्दर्शन की पर्याय और सम्यक्ज्ञान की पर्याय हुई सो तो जानती है कि, मैं तो कृत्यकृत्य पूर्णवस्तु यह तो। ओहो..हो..! यह तो परमात्मा है, पूर्ण है। उसे कुछ करना, धरना है नहीं। परन्तु उसमें स्थिर होने पर पर्याय में कृत्य-कृत्य हो जायगा। कुछ करना नहीं पड़े ऐसा केवलज्ञान तुझे होगा। आहा..हा..! परन्तु उसमें स्थिर होने पर ऐसा कहा है। कोई अपवास या भक्ति करने से नहीं। आहा..हा..! छः पंक्तियाँ हैं। परन्तु आखिर में हो जाता है। छः आहा..हा..! कितना भरा है! आहा..हा..! और सहज ही वाणी निकली है। ३८२ (बोल पूरा) हुआ।

### पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के १०२ वें जन्मजयंति महोत्सव प्रसंग पर सुवर्णपुरी सोनगढ़ में धार्मिक कार्यक्रम

पूज्य गुरुदेवश्री के महापुराण के पात्र ऐसे पूज्य निहालचंद्रजी सोगानीजी की १०२ वीं जन्मजयंति उनकी साधनाभूमि सुवर्णपुरी में दि.१९-५-२०१३ से दि.२९-५-२०१३ त्रिदिवसीय धार्मिक कार्यक्रम सहित अत्यंत आनंद उल्लासपूर्वक मनाने का निश्चित किया गया है। यह धार्मिक कार्यक्रम सोनगढ़ स्थित गुरुगौरव होल में मनाया जायेगा।

इस प्रसंग पर प्रातः पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा (आश्रम में), जिनदर्शन तथा पूजन जिनमंदिर में, पूज्य गुरुदेवश्री का सीडी प्रवचन स्वाध्याय मंदिर में, तत्पश्चात् पूज्य भाईश्री शशीभाई के द्रव्य दृष्टि प्रकाश ग्रंथ पर गुरुगौरव होल में प्रवचन, दोपहर में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, पूज्य सोगानीजी का गुणानुवाद गुरुगौरव होल में, रात्रि में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन और गुरुगौरव होल में भक्ति एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम सहित मनाया जायेगा। दि.२९-५-२०१३ पूज्य सोगानीजी जन्मजयंती दिन पर पूज्य भाईश्री के प्रवचन के बाद जन्मवधामणा तथा भक्ति की जायेगी। इस प्रसंग में भारतवर्षीय सभी मुमुक्षु भाई-बहनों को पधारने का हार्दिक निमंत्रण है। आनेवाले मुमुक्षुओं को संख्या सहित अपने आने की जानकारी संस्था के कार्यालय में देने की विनंती।

संपर्क : श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१

आयोजक : श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट, भावनगर



श्री परमागमसार वचनामृत-३५३-३५४ पर  
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन-१७६  
(दि.६-९-१९८३, भावनगर)

‘परमागमसार’ बोल-३५३, पन्ना-६४. फिर से लेते हैं। ‘गुरु और शास्त्र तो दिशा बतलाते हैं कि रागादिरूप तू नहीं अतः वहाँ से दृष्टि हटा, और ध्रुव में दृष्टि लगा।’ अंतःतत्त्व ध्रुव स्वरूप परमात्मा है वह सर्वथा उपादेय है। सर्वस्वरूप से उसकी उपादेयता उसमें दृष्टि स्थापित करने से आती है। ध्रुव में दृष्टि हो, ध्रुव में दृष्टि लगे तब शुद्धात्मा में ही उपादेयता रहती है।

गुरु और शास्त्र उसकी बात करते हैं, कि निज निर्दोष परमात्मातत्त्व है, उसे उपादेय कर और वर्तमान अवस्था में मलिनभावरूप राग है वह राग तेरा स्वरूप नहीं है। उपादेय नहीं है और अनादि से इसको सर्वस्व जानकर पकड़ा है, उसी पर दृष्टि पड़ी है, वही उपादेय हो पड़ा है, जिसे छोड़ देने जैसा है। ऐसा गुरु व शास्त्र कहते हैं। और जो ऐसा कहे वही सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र हैं। यह साथ-साथ इसमें आ जाता है। जो गुरु व जो शास्त्र राग की उपादेयता कराये वे वीतरागमार्ग के गुरु और वीतरागमार्ग के शास्त्र नहीं हैं।

बहुत साल पहले दिगम्बर आचार्य ‘सोनगढ़’ आये थे। ‘शेत्रुंजय’ और ‘जुनागढ़’ (गिरनारजी) की ओर यात्रा के लिये निकले होंगे। ‘सोनगढ़’ में शाम को करीब भक्ति के बाद पहुँचे थे। उन्हें रहनेकी व्यवस्था कर दी। पीछे ‘प्रवचन मंडप’ में एक रूम है वहाँ पर ठहरनेकी व्यवस्था कर दी। ‘गुरुदेवश्री’ भी आहार के पश्चात वहीं यँ ही घूमने निकलते थे तो उनके पास गये। उसवक्त मेरी उपस्थिति थी। उन्होंने एक पुस्तक बताया कि यह पुस्तक देखिये! इसमें लिखा है कि सम्मेदशिखर की यात्रा करे उसकी मुक्ति हो जाये। सम्मेदशिखर की महिमा

का पुस्तक था। किसी ने भी लिखा होगा। सम्मेदशिखर की यात्रा का शुभराग तो चाहे किसी को भी आ सकता है। इससे कोई मुक्ति हो जाये, ऐसा सिद्धांत कैसे हो सकता है? राग, शुभराग तो जितने भी प्रकार के देव-गुरु-शास्त्र के आश्रित हो, वह कोई वास्तव में शुभराग मुक्ति का कारण होता है और इससे मुक्ति हो जाती है ऐसा नहीं बनता।

उन्होंने कहा कि, पुस्तक तो चाहे जिस किसीने भी लिखा हो। क्योंकि वर्तमान में बहुत लोग पुस्तक लिखते हैं न! परन्तु राग से मुक्ति हो जाये ऐसा सिद्धांत वीतरागमार्ग में नहीं हो सकता। इसलिये ‘गुरुदेवश्री’ने कहा कि, वीतरागमार्ग में तो ऐसा सिद्धांत नहीं है। राग से मुक्ति हो, ऐसा सिद्धांत वीतरागमार्ग में नहीं है। ऐसा स्थापित करे वह शास्त्र शास्त्र नहीं और ऐसा कहनेवाला गुरु वास्तवमें गुरु भी नहीं है। लोग भले ही मानते हो वास्तवमें उसे सम्मत नहीं कर सकते।

मुमुक्षु :- सोचा जाये तो ऐसा ही है।

पूज्य भाईश्री :- ऐसा ही है।

शुद्धात्मा को दशयि वे गुरु और शुद्धात्मा को दशयि वे शास्त्र। और परिपूर्ण वीतराग हो वे देव। पूर्ण वीतराग हो वे देव। किंचितमात्र रागादि का सद्भाव हो तो वे देव के स्थान में नहीं है। ऐसा है। किंचितमात्र रागादि का शुभभाव हो।

(यहाँ) क्या कहते हैं? कि ‘गुरु और शास्त्र तो दिशा बतलाते हैं...’ अंतर्मुखता की दिशा बतलाते हैं। ध्रुव की दिशा बतलाते हैं कि यहाँ ध्रुव में दृष्टि लगा, अंतःतत्त्वमें दृष्टि लगा, ‘रागादि रूप तू नहीं...’ रागादि तू नहीं ऐसा इसलिये कहते हैं



कि, जीव अनादि से राग को अपना रूप मानकर ही प्रवर्तता है। इसलिये ऐसा कहा जाता है।

दूसरा एक यहाँ पर न्याय लिया है, 'क्योंकि स्थिर वस्तु में दृष्टि स्थिर हो सकती है, अस्थिर वस्तु में दृष्टि स्थिर नहीं हो सकती।' स्थिर वस्तु में दृष्टि स्थिर हो सकती है। स्थिर वस्तु हो उसपर दृष्टि स्थिर रह सकती है। परन्तु चलित पदार्थ पर की दृष्टि भी अचलित नहीं रह सकती। घड़ी का लोलक है। नजर को स्थिर रखनी हो और झुलते हुए लोलक पर रखे तो? नजर भी आपको घुमानी पड़ेगी। स्थिर पदार्थ पर, स्थिर वस्तु में दृष्टि स्थिर हो सकेगी। राग तो अस्थिर है। अस्थिर वस्तु में दृष्टि स्थिर नहीं हो सकती।

राग से लेकर जितने भी पर्यायाश्रित परिणाम हैं, वे सारे परिणाम अस्थिर होने से, क्षणिक होने से किसी भी परिणाम पर जो दृष्टि है वह दृष्टि कायम नहीं रह सकती। स्थिर परिणाम में शांति है। वास्तवमें तो ऐसा है। परिणाम में जितनी अस्थिरता-(चंचलता) हो उतनी अशांति पैदा होती है। यह विषय तो जैनदर्शन में शुक्लध्यान की श्रेणी पर्यंत लिया है। शुक्लध्यान की श्रेणीमें उपयोग शुद्ध है। केवल शुद्धोपयोग है। क्योंकि वह तो नौवें, दसवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान का विषय है। परन्तु नौ और दस गुणस्थान में नौ-दस और इससे जघन्य गुणस्थान में जहाँ अभी छद्मस्थ है वहाँ ज्ञप्ति परिवर्तन क्रिया ली है। ज्ञान की पर्याय द्रव्य-गुण-पर्याय के विषयमें भी ज्ञेय का परिवर्तन करती है - ज्ञेय को बदलती है, ज्ञप्ति परिवर्तन होता है वहाँ। तो वहाँ पूर्ण शांति और पूर्ण वीतरागता उत्पन्न नहीं होते हैं। इतना नीचे लिखा है।

मुमुक्षु :- ज्ञप्ति माने... द्रव्य-गुण-पर्याय में?

पूज्य भाईश्री :- (द्रव्य-गुण के अलावा) दूसरा विषय तो वहाँ है नहीं। किसी अन्यपदार्थ का विषय तो वहाँ है नहीं। परन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय का विषय है। अपने खुदके ही द्रव्य-गुण-पर्याय का विषय है। वह भी अबुद्धिपूर्वक का सूक्ष्म भेद है। परन्तु उतना ज्ञप्तिपरिवर्तनपना है तो कहते हैं कि वहाँ केवल

बाधकपना है। साधकपना नहीं है परन्तु केवल बाधकपना है। यह अभेद आत्मा को, ध्रुव आत्मा को स्थिर होकर साधना चाहिये ऐसा कहते हैं। इतनी अस्थिरता जो है वह उधर नुकसान में जाती है और इससे लाभ माना नहीं जाता। इतना सूक्ष्म प्रतिपादन है वहाँ।

यहाँ कहते हैं कि, 'स्थिर वस्तु में दृष्टि स्थिर हो सकती है, अस्थिर वस्तु में दृष्टि स्थिर नहीं हो सकती।' यह तो समझना बहुत आसान है ऐसा विषय है। इसलिये 'ध्रुव स्थिर वस्तु है।' इसलिये 'ध्रुव स्थिर वस्तु है।' उसमें दृष्टि लगाने से दृष्टि स्थिर होती है। दृष्टि स्थिर हो उसमें ज्ञानकी एकाग्रता होने पर उपयोग भी स्थिर होता है। और सर्व परिणाम उसी में अंतर्निमग्न करने योग्य है। ऐसा उसका तात्पर्य है। 'दृष्टि लगा' उसका ऐसा तात्पर्य है कि, सर्व गुणों के परिणाम उसमें ही निमग्न करने योग्य है, लीन करने योग्य है। और सर्वोत्कृष्ट तत्त्व भी वही है।

'ध्रुव स्थिर वस्तु है, वह स्वयं के परिणाम में भी नहीं आती।' क्योंकि परिणाम अस्थिर हैं। उत्पाद-व्ययरूप परिणाम अस्थिर भाव हैं। अगर स्थिर तत्त्व उसमें आ जाये जब तो उसकी भी अस्थिरता हो जाये, ऐसा कहना है। अस्थिरभाव में स्थिर भाव के आने से या तो स्थिरभाव का नाश हो जायेगा, अस्थिर होने पर।

यह न्याय ३२० गाथा में 'जयसेनाचार्यदेव'ने टीका करते वक्त लिया है कि, ध्यान है वह तो विनश्चर है जबकि ध्येय अविनश्चर है। क्या कहा? ध्यान तो विनश्चर-नष्ट होता हुआ भाव है, जबकि ध्यान का विषय जो ध्रुवतत्त्व है वह तो अविनश्चर है। अतः ध्यान में ध्येय नहीं आता या ध्येय ध्यानरूप नहीं होता। अगर ध्येय ध्यानरूप हो जाता, तो ध्यान का नाश होते ही ध्येय का भी नाश हो जाता। एक तो पर्याय पलटती है उसमें ध्यान की पर्याय एक के बाद नष्ट होकर दूसरी फिर तीसरी ऐसे उत्पन्न होती हैं। अथवा अगर ध्येय ध्यानरूप होता तो ध्यानमें से च्युत होने पर ध्यानका नाश हो तब

ध्येय का भी नाश हो जाता है। ऐसा न्याय लिया है वहाँपर।

इसलिये ऐसा कहा कि 'ध्रुव स्थिर वस्तु है, वह स्वयं के परिणाम में भी नहीं आती।' ये एक ही वस्तु में दो विरुद्धभाव हैं अथवा एक ही पदार्थ के दो अंग हैं, दो अंश है, जो दोनों के परस्पर विरुद्ध धर्म है। एक पर्याय अंग है जो अनित्य धर्मयुक्त है, अनित्यता धर्म है उसका। उसे चाहने पर भी नित्यरूप नहीं रह सकती। एक समय में पर्याय में पर्यायांतर पूरी वस्तु हो जाती है। उसी वस्तु में त्रिकाली गुणसंपत्ति है, जिन्हें आत्मिक शक्तियाँ कहे ऐसी जो गुणों की संपत्ति है, वे शक्तियाँ नित्य हैं, अनादिअनंत हैं और अनादि अनंत जो स्वरूप है वैसे ही स्वरूप में अनादि अनन्त रहती हैं। सर्वकाल एकरूप ही रहती हैं। ध्रुव रहती है मतलब बिना किसी बदलाव कायम रहती हैं। उसमें कोई बदलाव नहीं आता।

ये सामान्य और विशेष एक पदार्थ के दो अंग हैं। और दोनों अंग एक ही पदार्थ में होने पर भी पदार्थ में इसमें कोई विरुद्धता उत्पन्न नहीं होती। पदार्थ का ऐसा एक विचित्र स्वरूप होने से अन्यमतिमें इसका सर्वांग संपूर्ण दर्शन नहीं होने से किसीने नित्य अंग को पकड़ा तो किसीने अनित्य अंग को पकड़ा। बौद्ध धर्म पूरा अनित्य अंग पर आधारित उत्पन्न हुआ है। जबकि सांख्य है पूरा नित्य (अंग के) आधारित है। हालाँकि दोनों मिलाकर एक वस्तु है उसका जो सांगोपांग ज्ञान होना चाहिये व निरूपण होना चाहिये, वैसे जैनदर्शन के अलावा कहीं नहीं है। और उसमें भी आश्रय करने योग्य क्या है? दोनों की वस्तु व्यवस्था, वस्तु का बंधारण समझने के पश्चात् भी, द्रव्य-पर्यायरूप पूरे पदार्थ को समझमें लेने के बाद भी किसका अवलंबन लेना है? किसे मुख्य करना है? क्योंकि छद्मस्थ को मुख्य-गौण होता है। ऐसा नहीं है कि छद्मस्थ को अपने परिणाममें मुख्यता-गौणता का अभाव हो। ऐसा नहीं बनता।

छद्मस्थ जीव भी अनेक विषयों का, विभिन्न

विषयों का ज्ञान करता है। और जितने भी विषयों का ज्ञान करता है उन समस्त विषयों की मुख्यता होना संभवित नहीं है, हो सकती भी नहीं है। इसलिये किसी न किसी विषय की वह मुख्यता करता है और इसके अलावा दूसरे विषय की जीव गौणता करता है। इसतरह मुख्य-गौण अनिवार्यरूप से जीव के परिणामन में चलता ही है।

यहाँ कहते हैं कि, पदार्थ का द्रव्य-पर्यायमय जो ज्ञान होता है, उसमें किसकी मुख्यता करनी? कि, जो अंग नित्य है, जो शाश्वत है, जो ध्रुव है, नित्य है, अविनाशी है और मूलस्वरूपभूत है, जिसमें आत्मा के सर्व गुणोंकी संपदा है, उसकी मुख्यता करनी और पर्याय अंग की गौणता करना।

मुमुक्षु :- मुख्यता करनी माने क्या?

पूज्य भाईश्री :- मुख्यता करनी मतलब उसकी उपादेयता करनी, मुख्यता करनी मतलब उसपर जोर रहना, मुख्यता करनी मतलब मेरा ऐसा स्वरूप है वैसे अपनत्व का रस रहना। ये सारे मुख्यता के लक्षण हैं। मुख्यता के ये सारे लक्षण हैं।

और Practically मिलान करके देखना हो तो फिलहाल जो विषय मुख्य होता हो, हुआ हो, होता रहता हो, उसमें रस रहता है। उस पर जोर रहता है। है कि नहीं? अन्य सब गौण हो जाता है। दूसरे का लक्ष नहीं रहता। इसका ही लक्ष रहता है। पुरुषार्थ का जोर उसपर जाता है। जोर वहीं पर जाता है, रस वहीं पर आता है, लक्ष भी उसका ही रहता है। ये विभिन्न गुणों की पर्यायों से भी मुख्यता माने क्या? यह समझ सके ऐसा विषय है। क्योंकि सर्व गुण वहीं पर काम करते हैं। ज्ञान का लक्ष वहाँ रहता है, पुरुषार्थ का जोर वहीं पर रहता है, उसी चीज की महिमा रहती है, उसी वस्तु की महिमा रहती है, उसी की कीमत रहती है, उसमें रस आता है। ये सब सूचित करते हैं कि, इसकी मुख्यता हो रही है। यह तो practical है कि नहीं, सब को अनुभवगोचर है। हरएक छद्मस्थ को मुख्य-गौणरूप परिणामन रहता है।

अब यहाँ कहते हैं कि, अगर तुझे सामान्य-



विशेषात्मक अथवा द्रव्य-पर्यायमय, जो वस्तु के बंधारण से वस्तु का ज्ञान करवाया जाता है, जो कि जैनागम के द्रव्यानुयोग का विषय है, जैनागम में यह द्रव्यानुयोग का विषय है कि वस्तु पदार्थ कैसा, आत्मा कैसा? इसका पूरा विज्ञान निरूपित है। यह जानने तो मिला परन्तु जानने के पश्चात् उसमें फर्क न आये तो उसने कुछ जाना ही नहीं है। जानने पर तो इसकी कीमत आनी चाहिये।

जिसमें अनन्त गुणों की संपत्ति है, अलौकिक गुण हैं। हमलोग कभी गुणों की त्रिराशी करते हैं कि, सिरच्छेद करनेवाला हो, ऐसे वैरी दुश्मन के प्रति भी बाहर में क्षमा का भाव रहे, उसके प्रति शुभभाव रहे तो सारा जगत ये कहेगा कि ये गुणवान हैं। देखो! क्रोध के प्रति भी क्षमा रखते हैं।

जगत में क्रोध को अवगुण कहते हैं और क्रोधादि के प्रति क्षमा रखनेवाले को गुण कहा जाता है। सारा जगत उसे गुण कहते हैं।

मुमुक्षु :- यहाँपर इसे अवगुण गिना जाता है।

पूज्य भाईश्री :- उसे भी जब जैनदर्शन में अवगुण के खाते में इसकी खतौनी होती हो, तो जैनदर्शन में गुण किसको कहते हैं? यह विषय जरा सोचने पर मजबूर करे ऐसा है।

‘क्षमादि भाव, क्षमादि दोष मैंने कभी किया ही नहीं’ आता है? ‘सोगानीजी’में। नित्य ध्रुव स्वभाव में क्षमा के शुभभाव का स्पर्श या प्रवेश नहीं है। और क्षमा आदि अनित्य शुभभाव में मेरे नित्य स्वरूप का प्रवेश नहीं है। ऐसा है। इसलिये वहाँ दृष्टि की स्थापना करते हैं। कि, मेरी जो त्रिकाल सत्ता, त्रिकाली अस्तित्व है, जिस अस्तित्व में अनन्त गुणोंके भण्डार भरे हैं, ऐसा जो मेरा अस्तित्व है, उस अस्तित्व में तो क्षमा आदि दोष का भाव है ही नहीं। क्षमा आदि गुण के भाव नहीं अपितु दोष के भाव नहीं है ऐसा कहते हैं। इसलिये मैंने नहीं किये। ऐसा लिया है। ये तो पत्रव्यवहार में इतना तात्त्विक विषय व्यक्त हुआ है। आचार्यों के आगम में तो इसका बहुत व्यवस्थित पद्धति से निरूपण है।

कहते हैं कि, ‘ध्रुव स्थिर वस्तु है, वह स्वयं

के परिणाम में भी नहीं आती।’ दूसरे के परिणाम के साथ तो इसका संबंध ही नहीं है किन्तु अपने परिणाम में भी नहीं आती। ऐसा है। अब इसका उपयोग क्या? ऐसी जो समझ हुई इसका लाभ क्या? कि ज्यादा से ज्यादा तो जीव को अन्य पदार्थ का ज्ञान होने पर ज्ञेय के साथ संबंध होता है परन्तु सो तो पर्याय तक सीमित बात हुई, ऐसा कहते हैं। ऐसे दूसरे पदार्थ को विषय करनेवाली ज्ञान की पर्याय भी जहाँ मैं त्रिकाली ध्रुव हूँ, वहाँ कहाँ है। वहाँ अपनत्व स्थापित करने पर परपदार्थ का संपर्क तो दूर रहो परन्तु परपदार्थ के संपर्कयुक्त पर्याय पर भी दृष्टि नहीं रहती है। मूलमें से विभाव की उत्पत्ति को बंद करने की पद्धति जो है उसमें यह विज्ञान काम में आता है। ऐसा कहा न? वैज्ञानिक दृष्टि से क्या लिया?

‘ध्रुव वस्तु स्थिर है। वह स्वयं के परिणाम में भी नहीं आती।’ कहते हैं कि तेरा परपदार्थ पर लक्ष गया, परन्तु वास्तव में तुम कहाँ हो इसका यदि तुझे भलीभाँति भान होगा, तो उसकी गौणता व उपेक्षा हुए बिना रहेगी नहीं। इसतरह मुख्यता करनेकी बात है। अपने ध्रुव की दृष्टि में उसी की मुख्यता रहती है। परिणामों का, सर्वगुणों के परिणाम संबंधित यह नियम है, यह सिद्धांत है कि, जिसकी दृष्टि हो उसी की मुख्यता होती है, और कुछ नहीं होता।

दृष्टि राग और पर प्रत्ययी हो और साथ-साथ आत्मा के स्वभाव की मुख्यता करने की इच्छा करे तो वह बेकार जाती है। कोई ऐसा कहे कि, मुझे तो आत्मा की मुख्यता करनी है, मुझे तो आत्मा को ही मुख्य करना है, परमात्मतत्त्व को ही मुख्य करना है। परन्तु क्या दृष्टि छोड़े बिना? ‘पूज्य बहिनश्री’ने यह बात ली है कि, कोई रुचि को और श्रद्धा को पलटे बिना उपयोग को पलटना चाहे तो वह संभव नहीं है। उपयोग को तुझे अगर आत्मा में स्थिर करना हो और तेरी दृष्टि राग पर पड़ी होगी तो उपयोग आत्मा में नहीं आ सकेगा। तेरी इच्छा नाकाम रहेगी, तेरी इच्छा काममें नहीं

आयेगी। सारा विषय जो है उसमें किस पद्धति से कार्य होता है यह समझने जैसा विषय है।

**‘ध्रुव स्थिर वस्तु है। वह स्वयं के परिणाम में भी नहीं आती।’** ऐसा कहकर यों कहना है कि परिणाममात्र को तू गौण कर। पर्यायाश्रित परिणाम की दृष्टि छोड़ और ध्रुव की दृष्टि कर ऐसा कहना है। तो तुझे सर्व परिणामों की उपेक्षा होगी। सम्यक्प्रकार से दोष तो गौण होंगे परन्तु सम्यक् प्रकार से गुणों की उत्पत्ति होगी तो भी दोष की गौणता होगी, लीजिये, ठीक ! ऐसा विषय है।

दोषों को दो प्रकार से गौण किये जाते हैं। एक तो स्वच्छंदी जीव दोष को गौण करता है। अपने दोषों की परवा किये बिना विशेष दोष में परिणमता है। दोष को दोष नहीं मानता। जबकि एक सम्यक् दृष्टि साधकजीव जिनको परिणाम मात्र की गौणता वर्तती है, वे दोष को गौण करते हैं। ऐसे साधक के लिये कहा जाता है कि उन्हें अपना छोटा दोष भी बड़ा पर्वत जैसा दिखता है। जैसे magnifying Glass रखते हैं न? सूक्ष्म वस्तु भी बड़ी दिखती है। Magnifying Glass - बिलोरी काच। उनके सूक्ष्म ज्ञान में छोटा दोष भी बड़ा लगता है, फिर भी इसकी मुख्यता नहीं करते। ऐसी अंदर की विशिष्टता है। दोष को गौण करते हैं फिर भी छोटे दोषको बड़ा जानते हैं क्योंकि उसे मिटाना है। जबकि गुण जो प्रगट होते हैं उसे गिनते ही नहीं। जैसे दोष को नहीं गिनते वैसे ही गुण को भी नहीं गिनते। क्योंकि गुण में अहंपना करना नहीं है। उसका अभिमान व अहंकार उन्हें करना नहीं है।

इसका मतलब ये हुआ कि परिणाम में तो गुण व दोष दो चीज होती हैं। अगर दोनों को गौण करते हैं मतलब परिणाममात्र को वे गौण करते हैं। जबकि सिद्धांत ऐसा ही है कि, अपने ही गुण-भेद, सामान्य में रहे गुणभेद और विशेष अवस्थाएँ रूप प्रगट होते हुए पर्याय भेद, ऐसे भेदमात्र पर लक्ष जाते ही राग की उत्पत्ति हो जाती है। रागी जीव को, छद्मस्थ जीव को नियम से राग

की उत्पत्ति हो जाती है। एकमात्र वीतरागता, परिपूर्ण वीतरागता में उत्पन्न हुआ सकलविमल केवलज्ञान एकमात्र ऐसा ज्ञान है कि, निरवशेष अंतर्मुख रहने के बावजूद भी उसमें गुणभेद, पर्यायभेद, धर्म भेद, स्वद्रव्य और परद्रव्य के समस्त जगत के झलकते हैं, सहज जानने में आते हैं, उपयोग लगाकर जानने के लिये जाना नहीं पड़ता परन्तु निर्मल ज्ञान में उसका प्रतिबिंब झलकता है, फिर भी वहाँ राग की, द्वेष की या मोह की उत्पत्ति नहीं होती। केवलज्ञान उस दशा तक पहुँचा है। परिपक्व ज्ञानकी ऐसी एक परिपूर्ण दशा है कि जहाँ अनेकविध प्रकार से सारे जगत के पदार्थों का ज्ञान होने पर भी राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति नहीं होती।

नासमझ के कारण कई लोग ऐसी भ्रांति में चड़ जाते हैं कि अरिहंत और सिद्ध को सबसे अधिक दुःख है। क्यों सबसे ज्यादा दुःख है? कि सारी दुनिया को वे जानते हैं, सारे जगत को जानते हैं, सारे जगत को जाननेमें तो कितनी ही चित्र-विचित्र घटनाएँ प्रतिसमय-प्रतिक्षण बन ही रही हैं, कि जिसमें तो दुःख हुए बिना रहे ही नहीं। सबसे अधिक दुःख उन्हें हैं। अरे..! भाई! भूलावे में आ गया तू बापू! सबसे अधिक सुख उनको ही है। सबसे (ज्यादा) दुःख तो नहीं सबसे ज्यादा सुखी हैं। यह सिद्धांत केवलज्ञान से सिद्ध होता है कि ज्ञान के कारण दुःख नहीं है। अगर ज्ञान के कारण दुःख होता तो केवली को, सिद्ध को सबसे अतिरिक्त दुःख होना चाहिये। परन्तु दुःख तो मोह के कारण है। ज्ञान के कारण दुःख नहीं है परन्तु मोह के कारण दुःख है।

अगर ज्ञान के कारण दुःख की उत्पत्ति होती तो अखबार में मृत्युनोंध की कोलम पढ़ते हुए बहुत दुःख होना चाहिये। परन्तु वैसा नहीं होता। जिसके ऊपर मोह है, ऐसी व्यक्ति की मृत्यु की जानकारी मिले तब दुःख होता है। क्योंकि मोह है वह अपनत्व करता है। और अपनत्व, उसमें अपनत्व का अभाव होने पर भी, खुद वहाँ नहीं होनेपर भी अपनत्व किया वही जीव को दुःख का कारण है।

उसे प्रयोग में ऐसे लेना। यह विषय प्रयोगमें लेने के लिये उपयोगी है कि, पर्याय पर की ओर जाती है और उसमें किंचितमात्र भी गड़बड़ी होती है। उसमें यदि एकाकार न होना हो तो उस पर्याय को गौण कर देनी चाहिये। वह पर्याय गौण कैसे हो? कि ध्रुव में दृष्टि लगाने से यानी कि ध्रुव में अपनत्व स्थापित करने से। मैं त्रिकाल मेरा अस्तित्व जहाँ है वहाँ यह परपदार्थ जो लक्ष में आता है सो तो नहीं है परन्तु उसका प्रतिबिंब झलके ऐसी ज्ञान की पर्याय भी उसमें नहीं है। मेरे ध्रुव स्वरूप से पर्याय ऊपर-ऊपर तिरती है और ऊपर-ऊपर फिरती है। मुझे इसकी स्पर्शना नहीं है। जिस विषय से राग-द्वेष-मोह उत्पन्न हो उसे तो छोड़ीये किन्तु जो विषय ज्ञान में आया, ज्ञान के संपर्क में आया वह ज्ञान की पर्याय भी भिन्न है (क्योंकि) ध्रुववस्तु परिणाम में भी नहीं आती। अतः परिणाम में जो अपनत्व स्थापित किया है और परिणाम में अपनत्व करने पर भावमरण जो प्रति क्षण, प्रति समय होता है। क्योंकि परिणाम तो नष्ट हो जाते हैं। मृत्यु कहो या नष्ट होना कहो। जिसने पर्याय में अहंपना स्थापित किया उसका समय-समय पर भावमरण हुए बिना रहता नहीं। क्योंकि वह पर्याय तो व्यय हो जानेवाली है।

जैसे अभी कोई यह दस प्राणयुक्त पौद्गलिक जीवन है उस श्वाच्छोश्वास को टिकाये रखना चाहे तो भी जीव की इच्छा के मुताबिक नहीं रहता। वैसे पर्याय को भी अपनी इच्छानुसार टिकाना चाहे तो कोई टिकेगी नहीं। चली जाती है। एक समय की इसकी आयु है। इसमें पूरा का पूरा अपनत्व स्थापित किया है इसलिये जीव का भावमरण हुए बिना नहीं रहता। जीव को समझ में आये या न आये। परन्तु ज्ञानियों ने उसे क्षण-क्षण होता हुआ भावमरण कहा है। 'श्रीमद्जी' ने पंद्रह साल की उम्र में यह बात की। 'क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो।' हे जीवों! आप जगत के कार्यों में सुख व हर्ष के भाव में निमग्न हों, किन्तु वह तो आपका भावमरण है। जिसमें आप आसक्त

हैं वह तो आपका भावमरण है। उसमें क्यों उल्लासित हो रहे हो? ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- बहुत सुंदर रीत बतायी।

पूज्य भाईश्री :- वह इसलिये बात आयी है क्योंकि, 'ध्रुव स्थिर वस्तु है। वह स्वयं के परिणाम में भी नहीं आती।' यह तो जैसे-जैसे काल बीतेगा वैसे-वैसे 'गुरुदेवश्री' के वचनों की कीमत होगी। कि एक-एक वचन कितने मूल्यवान हैं और उसमें तत्त्व जो है वह ठूस-ठूसकर भरा है। ऐसा विषय है।

मुमुक्षु :- एक ही बोल से बेड़ा पार हो जाये।

पूज्य भाईश्री :- हँ! 'अतः उसपर दृष्टि देने से दृष्टि स्थिर होती है।' अतः ध्रुव स्थिर तत्त्व पर दृष्टि देने से दृष्टि में भी स्थिर भाव आता है। भले ही वह परिणामनशील भाव है, दृष्टि पर्याय स्वयं परिणामनशील भाव है परन्तु इसका एक धर्म ऐसा है कि जिसके अवलंबन से तदाकार भाव को धारण करती है, तद्रूपभाव अवधारण करती है, तद्रूप भाव धारण करती है। जैसे बाहर में अन्य ज्ञेयों के अवलंबन से उसमें तदाकार भाव धारण करती है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भिन्न पदार्थ हो तो भी तदाकारता भाव में कर लेती है, तन्मयता कर सकती है तो फिर जो निज अभेद अपना ही अस्तित्व है, उसपर तन्मयभाव से दृष्टि जाये तो वह अभेदभाव कैसा होगा? कि जिस अभेदभाव की एक क्षण में अनन्त जन्ममरण का चूरा-चूरा हो जाये। इतनी शक्ति भरी है। अमर होने की यह एक गोली है, Tablet है।

यहाँ अभी कोई डॉक्टर ऐसा कहे कि, एक गोली खिलाऊँगा आपको, फिर आपको मरना ही नहीं पड़ेगा। तो क्या कहेगा, माँग लीजिये डॉक्टर जो भी कीमत वसूल करनी हो। आप जो कीमत कहेंगे मैं देने के लिये राजी हूँ। यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि, यह सम्यग्दर्शन और शुद्धोपयोग एकबार हुआ कि तू अजरअमर हो गया। फिर मरनेवाला तो नहीं है किन्तु जन्म-जरा भी तुझे नहीं है। ऐसा है। उधर तो जिंदा रहे और हाथ-पैर से पंगु होवे तो

वृद्धावस्था में जीने का कोई मतलब नहीं है। यहाँ तो जीव की शक्ति का विकास होगा। पंगु तो नहीं होगा परंतु शक्तिवंत हो जाये ऐसा रास्ता है यह तो।

**‘अतः उसपर दृष्टि देने से दृष्टि स्थिर होती है; अर्थात् सम्यक्दर्शन होता है।’** सम्यग्दर्शन होवे ऐसा शास्त्र, गुरु दिशा निर्देश करते हैं। इसतरह सम्यग्दर्शन होता है। **‘इसप्रकार शास्त्र और गुरु दिशा दिखलाते हैं, पर करना तो स्वयं अपने को है।’** अगर जीव स्वयं पुरुषार्थवंत होकर तथारूप परिणमन करे तो तब दिखानेवाले ऐसे देव, गुरु और शास्त्र निमित्त हुए ऐसा कहा जाये।

एकबार ‘सोगानीजी’ ने हँसते-हँसते कहा कि ‘गुरुदेवश्री’ को सम्यग्दर्शन में निमित्त बनाना मिथ्यादर्शनमें नहीं बनाना, हँस रहे थे। मतलब क्या? कि ‘गुरुदेवश्री’ हमारे निमित्त हैं। ऐसे गुरु हमारे निमित्त हैं, निमित्त हैं ऐसा कहते हुए भी आप यदि मिथ्यादृष्टि रहोगे तो आपने उन्हें मिथ्यादृष्टि में निमित्तरूप स्थापित कर दिया, आपने अपने मिथ्यादर्शनरूप रहने में निमित्त स्थापित कर दिये। इसलिये आप श्रीगुरु को सम्यग्दर्शनमें निमित्त बनाईये ऐसा कहते हैं। यानी कि दूसरे तरीके से यह कह दिया कि कार्य तो खुद को ही करना है। गुरु और शास्त्र तो दिशा बतलाते हैं।

एक शब्द यहाँ से उठाया है। ३४८ से **‘राग की दशा की दिशा पर-ओर है वह ज्ञान के दशा की दिशा स्व-ओर है।’** इस तरह शास्त्र व गुरु दिशा बतलाते हैं। स्वयं जहाँ अंदरमें है वहाँ तत्त्व ऐसा है ऐसी दिशा बतलाते हैं। **‘पर करना तो स्वयं अपनेको है।’** अंदर में दृष्टि करना, अंदरमें ज्ञान का उपयोग लगाना, वह कार्य तो स्वयं को ही करना है। वह कार्य कोई गुरु या शास्त्र करके नहीं देंगे। शास्त्र व गुरु तेरे में प्रवेश नहीं करेंगे। वे तो ऐसा कहते हैं।

‘सोगानीजी’ ने विलक्षण पद्धति से कहा है कि, जीव बाहरमें परिणाम रखकर भटकता था, वह यहाँ वीतराग देव-गुरु-शास्त्र के पास आया तो

वहाँ भी उसे थप्पड़ लगाई। क्या किया? थप्पड़ मारा। अंतर्मुख हो जा ऐसा कहा। मेरे सामने मत देख, अंतर्मुख हो जाओ ऐसा कहते हैं। मेरी ओर मत देख, अंतर्मुख हो जाओ। ठीक! अन्य देव-गुरु-शास्त्र तो यों कहेंगे कि, तू हमारी भक्ति कर, हमारी शरण में आ जाओ। हम तुम्हारा कल्याण कर देंगे।

वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु कहते हैं कि, तू अपनी शरण ग्रहण कर। हमारी तरफ मत देख। हम तेरी ओर नहीं देखते हैं यही हमारा उपदेश है कि, तू भी हमारी तरफ मत देखना। बिना कहे तुझे यही उपदेश देते हैं। वीतराग मुद्रा बिना कुछ बोले भी बोध का कारण है। कारण है मतलब निमित्त है। बिना कहे भी।

यह गुरुमुद्रा में भी ऐसा ही है। गुरु की शांत मुद्रा भी बिना कुछ कहे उपदेश देती है। ऐसा नहीं है कि वे कुछ कहते हो तब ही बोध मिलता है। इसलिये गुरु का सान्निध्य शिष्य चाहता है इसका यही कारण है। वे जब कुछ बोले तब तो सीधा उपदेशवचन है ही परन्तु कुछ न बोले तब भी उनकी जो मुखमुद्रा है वह उपदेश दे जाती है। ऐसे ही कोई वीतरागी परिणमन के प्रकार भाव अनुसार मुखाकृति पर आते हैं, वह पात्र शिष्य है, पैनी नजरवाला है, दृष्टिवाला है। वह पहचान लेता है। उसे उनके दर्शन होते हैं। उसमें से उन्हें इनके दर्शन होते हैं। जो वीतरागता के दर्शन हैं, आत्मा के दर्शन है, वास्तव में ऐसा है। उसमें स्वभाव के दर्शन है।

मुमुक्षु :- इस बोल में ध्रुव पर आने की बात है।

पूज्य भाईश्री :- कहते हैं कि मेरे सामने भी तू देख ऐसा हमारा उपदेश नहीं है। हमारा उपदेश तो ऐसा है कि, तू अंतर्मुख होकर तेरे ध्रुवतत्त्व को पकड़, अपने स्वरूप में सावधान था, तेरे स्वरूपमें स्थिर होकर रहे। अच्छा तो यही है कि, तू शुद्धोपयोग में रहे। ‘अनुभवप्रकाश’ में इतना वचन है। हमारी ओर देखने की बात तो हम कभी नहीं करते।

और हमें अपेक्षा भी नहीं है। कोई हमारी भक्ति करे, स्तुति करे, प्रशंसा करे, गुणानुवाद करे, इसलिये वह हमारा भक्त है ऐसा हमने कभी देखा नहीं है, ऐसा कहते हैं। एकदम विलक्षण पद्धति से लिया है।

तीर्थकर भगवान की स्तुति करते हैं तब इसप्रकार करते हैं कि, हे भगवान! हे परमेश्वर! भगवान के भक्त होते हैं न? यह मेरा भक्त है, मेरी स्तुति करता है इसलिये मेरा भक्त है ऐसा आपने कभी देखा नहीं है। आपकी वीतरागता में ऐसा मेरा-तेरा कहीं नहीं आता। जैसे कि, यह गुणानुवाद करनेवाला मेरा और यह अवर्णवाद करनेवाला वह मेरा नहीं। ऐसा कभी आपने नहीं देखा। ठीक! अभी वर्तमान में नहीं देखा इतना तो नहीं बल्कि ऐसा आपने कभी नहीं देखा। कैसा वर्णन किया है! इसतरह वीतरागता को स्थापित की है। और स्वयं स्वरूप से परिपूर्ण परमात्मा होने से, परिपूर्ण परमात्मा को किसी की अपेक्षा कैसे हो सकती है? और किसी की भी अपेक्षा हो वह परिपूर्ण कैसे हुए? वह तो उनकी परिपूर्णता को बाधारूप बात है।

‘कर्ता ईश्वर जो गणे ईश्वर दोष स्वभाव’ ‘आत्मसिद्धि’ में ‘श्रीमद्जी’ने लिखा है। सारा जगत ईश्वर को कर्ता मानता है, जगतनियंता मानता है, सृष्टि के सर्जनहार मानता है। फिर नाम चाहे अलग-अलग देवे। यह हमारे भगवान का यह नाम है। परन्तु मान्यता तो एक ही है। ऐसे जीव को कहते हैं कि, तुने ईश्वर को अपूर्ण ठहराया, उन्हें पूर्ण नहीं रखा। जबकि उसे पूछेंगे तो मना करेगा। आपके ईश्वर परिपूर्ण है या अपूर्ण है? तो कहेगा, वे तो

पूर्ण ही होवे न! इसमें कहाँ कोई प्रश्न है? अब पूर्ण है तो उन्हें अपेक्षा कैसे हुई? उन्हें अपेक्षा का सद्भाव कैसे रह गया? यदि उन्हें अपेक्षा है तो उनकी पूर्णता साबित नहीं होती है। कुछ करना बाकी है इसका मतलब ही अभी तक अपूर्णता है। इनको तो सारे जगत का करना बाकी है तो उनकी तो अनन्त अपूर्णता इसमें साबित कर दी। इसीलिये अज्ञानतावश जीव ईश्वर को गालियाँ देने लगता है। अज्ञानवश ऐसा करता है। वह उसका दोष है। अज्ञान का बड़ा दोष है। बड़ा दोष उसे कहने के पीछे यही कारण है।

‘करना तो स्वयं अपने को है। इसके बिना जन्म-मरण का अंत नहीं आनेवाला।’ जीव अगर स्वयं प्रयत्नपूर्वक सम्यग्दर्शन आदि धर्म को प्राप्त नहीं करता है तो इसके जन्म-मरण का अंत आनेवाला नहीं है। किसी दूसरे परिणाम से जन्म-मरण नहीं मिटते अपितु जन्म-मरण के बंधन में पड़ता है। एक वीतरागी सम्यग्दर्शन, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी चारित्र, जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहने में आता है, यह एक ही ऐसा मोक्ष का मार्ग है कि, जिससे जन्म-मरण मिटते हैं, इसका अंत आता है। दूसरे किसी भी प्रकार के परिणामों से नया बंधन होता है। जिसकी फलश्रुति जन्म-मरण हुए बिना नहीं रहते।

इसप्रकार यहाँ पर ‘समयसार’ की १७-१८ गाथा के प्रवचन में यह विषय विशेषरूप से लिया है। ध्रुव परिणाम में नहीं आता और इस ध्रुव का यहाँ पर दिशा निर्देशन करना है ऐसा कहना है। यहाँ ध्रुव की दिशा दिखानी है जिससे कि, सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट होकर जन्म-मरण का अंत हो। ३५३ बोल (पूरा) हुआ।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अप्रैल-२०१३) का शुल्क श्री मणिलालभाई सावला, (०९३२२२६२४७०) के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

**पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनामृत**

चैतन्य सामान्य अभंग अंग है। - 'अनुभव प्रकाश' [पर्याय (चैतन्य विशेष) भंग-अंग है] भंग अंगमें अहंबुद्धि दुःख / आकुलताको उत्पन्न करती है। (७७)



'स्वरूपसे पूर्ण हूँ' - जैसे ही यह अनुभव हुआ कि तब पर्यायका कर्तृत्व उड़ जाता है। तब पर्याय सहज शुद्ध होने लगती है, तब कहीं पर भी कर्ताबुद्धि नहीं होती - यही स्वभावबुद्धि है। (७८)



स्वरूपके विचारसे आगे बढ़कर, निज अखण्ड शुद्ध स्वरूपको देखनेसे, स्वयं ही त्रिकाल पूर्णानंदसे भरपूर निर्विकार दिखाई देता है कि जिसमें विकार कर सके / हो सके ऐसी कोई गुंजाईश ही नहीं है। अहो! शुद्ध चैतन्यके सिवा कुछ भी अपनेरूपमें दिखाई नहीं देता। (७९)



अध्यात्म तत्त्वमें वास्तवमें जिसे रस आया हो उसे तत् सम्बन्धित बाह्य प्रतिष्ठा (धार्मिक जगतकी प्रतिष्ठा) की चाहना नहीं होती। मानकी रुचिवालेको आत्माकी रुचि नहीं होती। अध्यात्मका यथार्थ रस भी जिसे नहीं है, उसे संयोगोंकी रुचि है। (जगतमें धनके लालची होते हैं वैसे।) (८०)



चैतन्यरस सर्वोपरी रस है - अमृतरस है, जिसका आविर्भाव होने पर सर्व प्रकारके विभावरस फीके पड़ जाते हैं, क्योंकि विभावरससे स्वभावरसमें अनंत शक्ति ज्यादा है। (८१)



जब अनंत (निर्विकार चैतन्य) सामर्थ्य स्वरूपके भासनमात्रमें विकारका वाष्पीकरण होने लगता है - विभावकी जड़ कटने लगती है; तो फिर साक्षात् अनुभवमें - वेदनमें मुक्ति अनन्यभावसे हो उसमें कौनसा आश्चर्य? (८२)



निजपद आरामका धाम - विश्रामधाम है। उसे भूलकर - छोड़कर आराम कहाँसे मिले? उसे भूलकर आहारसे तृप्ति कैसे हो? सिर्फ आकुलता अनुभवमें आती है। - उसे भूलकर अन्य (मित्रादि) संगसे हूँफ कैसे मिले? सिर्फ संयोगकी आकुलतामें भ्रातिसे हूँफ माननेमें आती है। (८३)



मित्र - परिवार आदि संयोगोंकी मिठास ज्ञानीको उत्पन्न नहीं होती क्योंकि सम्यक्ज्ञानमें दूसरे जीव (द्रव्यदृष्टि होनेसे) मात्र चैतन्यमूर्ति दिखाई देते हैं। और उनके देहादि पुद्गल इतने गौण हो जाते हैं कि जैसे मानो दिखते ही नहीं। (८४)



साधककी पर्यायका विकारांश स्वरूपभानरूपी लगामके कारण अत्यंत मर्यादामें होता है। वह विभावअंश मर्यादामें उत्पन्न होकर वहीं का वहीं कमजोर होता हुआ व्ययको प्राप्त होता है और ज्ञानबल बढ़ता जाता है। मुक्त भावकी मस्ती वास्तवमें अलौकिक है। दूसरेको इसका खयाल नहीं आता। (८५)





द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से दृष्टि के परिणामन और दृष्टि के विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनामृत

मेरा स्वभाव ज्ञान-दर्शनादि से लबालब भरा हुआ है, इसमें नया कुछ करना नहीं है, कुछ बढ़ाना भी नहीं है। ५१२.



पर्याय में तीव्र से तीव्र अशुभ परिणाम हो या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्ध परिणाम हो 'मेरा' कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं। 'मैं तो वैसा का वैसा ही हूँ।' (पर्याय में कितना भी फेरफार हो लेकिन द्रव्य तो एकरूप रहता है; इसलिए ध्रुव-नित्य स्वभाव के आगे किसी भी प्रकार की क्षणिक-अनित्य पर्याय का मूल्य नहीं है।) ५२२.



प्रौढ विवेक : 'मैं निष्क्रिय चिन्मात्र वस्तु हूँ।' ५४१.

'दृष्टि' परिणामपर रखी है तो (उसका) मुख द्रव्य की ओर बदलना है; यह मुख भी परिणाम ही बदलता है; 'मेरे में' (ध्रुव सामान्य में) तो मुख भी कहाँ बदलना है ? 'मैं तो जहाँ हूँ वहाँ ही हूँ,' बदलना-फदलना कुछ 'मेरे' में नहीं है। ('मैं तो ध्रुव हूँ' ऐसे श्रद्धा के परिणामन में, परिणाम का मुख स्वयं पलटकर आत्मोन्मुखी हो जाता है।) ५५२.



प्रश्न :- (यह सब) स्वभाव को मज़बूत करने की बात है ?

उत्तर :- स्वभाव तो मज़बूत ही है, उसमें बैठ जाओ। ५६१.



आत्मा तो समुद्र है। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं और अपने में ही विलीन हो जाती हैं; समुद्र को लहरों की क्या दरकार ? वैसे ही इधर परिणाम उठते हैं और समा जाते हैं; मुझ (ध्रुव स्वभाव) समुद्र को इनकी क्या दरकार ? ५६२.



(कितने ही लोग) समझे बिना, द्रव्य में पर्याय नहीं है... नहीं है - ऐसा ले लेते हैं। लेकिन 'पर्याय नहीं है,' ऐसा कौन कहता है !! दृष्टि का विषयभूत - 'अपरिणामी' - पर्याय से अलग है, उसमें पर्याय का अभाव है, उसमें पर्याय नहीं है - ऐसा कहते हैं। ('द्रव्य' शब्द का प्रयोग दो प्रकार से होता है : (१) प्रमाण के विषयभूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। (२) निश्चयनय के विषयभूत अपरिणामी द्रव्यस्वभाव को भी द्रव्य कहते हैं। पहले में पर्याय का सद्भाव है तथा दूसरे में असद्भाव है। अतएव जहाँ जो प्रकरण हो वहाँ तदनुरूप अर्थघटन करना चाहिए।) ५६६.



'परिणाममें से अहम्पना हटना और त्रिकाल स्वभाव में अहम्पना करना,' वह शुद्धजीव का (परिणामस्वभाव) स्वरूप है। ५६९.



२२३

बंबई, फागुन वदी १४, बुध, १९४७

‘इस विषयमें अधिक लिखने जैसी दशा नहीं रही है, और दूसरा कारण है उपाधियोग। उपाधियोगकी अपेक्षा वर्तमान दशाका कारण अधिक बलवान है। जो दशा बहुत निस्पृह है, और उसके कारण मन अन्य विषयमें प्रवेश नहीं करता; और उसमें भी परमार्थके विषयमें लिखते हुए केवल शून्यता जैसा हुआ करता है;...लेखनशक्ति शून्यताको प्राप्त हुई जैसी होनेका कारण एक यह भी है कि चित्तमें उद्भूत बात बहुत नयोसे युक्त होती है, और वह लेखनमें नहीं आ सकती, जिससे चित्त वैराग्यको प्राप्त हो जाता है।’

पत्रका उत्तर सविस्तर लिखनेकी इच्छा होने पर भी, अंतरंगमें बलवान निरिच्छक अध्यात्मपरिणतिके वश, यह इच्छा क्वचित् ही पूर्ण होती है। अंतर स्वरूपमय बलवान परिणति और बाहरमें उपाधियोग इस प्रकार परस्पर विरुद्ध परिस्थितिके कारण परमार्थ सम्बन्धी पत्र व्यवहार करनेमें उपयोग चलता नहीं है। बलवान निर्विकल्प परिणति उपयोगकी प्रवृत्तिको इतनी हद तक अटकाती है कि परमार्थके विषयमें लिखते हुए भी शून्यभाव हो जाता है। यद्यपि भाव शून्यता आनेका एक कारण ऐसा भी है कि ज्ञानमें अनेक नयोकी संधियुक्त कोई बात उद्भूत होती है जो स्पष्टरूपसे लिखनेमें, उपयोग लिखनेके विस्तारमें लंबाना पड़े, ऐसा होना-अध्यात्मदशाके कारण-संभवित नहीं होनेसे चित्त वैराग्यको प्राप्त होता है, अर्थात् लिखनेके परिणामका रस टूटकर नीरसताको प्राप्त हो जाता है। कृपालुदेवकी आत्मरसकी उग्र परिणतिके यहाँ दर्शन होता है कि जो आत्माकार दशाके कारण उपयोग पारमार्थिक लेखनीके विषयमें भी प्रवेश नहीं कर पाता।

२२८

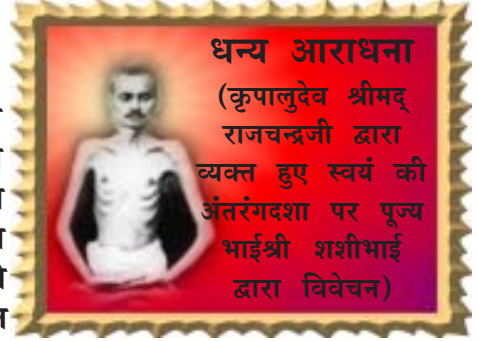
बंबई, फागुन, १९४७

‘सदुपदेशात्मक सहज वचन लिखने हों इसमें भी लिखते लिखते वृत्ति संकुचितताको प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उन वचनोंके साथ समस्त परमार्थ मार्गकी सन्धि मिली होती है, उसको ग्रहण करना पाठकोंके लिए दुश्कर होता है और विस्तारसे लिखनेपर भी पाठकोंको अपने क्षयोपशमकी क्षमतासे अधिक ग्रहण करना कठिन होता है; और फिर लिखनेमें उपयोगको कुछ बहिर्मुख करना पड़ता है, वह भी नहीं हो सकता। यों अनेक कारणोंसे पत्रोंकी पहुँच भी कितनी ही बार लिखी नहीं जाती।’

इस वचनमृतसे कृपालुदेवकी अंतरंगदशा विशेषरूपसे व्यक्त होती है। सत्सदुपदेशात्मक सहज वचन लिखनेमें भी बाह्यकार उपयोगकी प्रवृत्ति होती है वह सहजरूपसे लिखते-लिखते संक्षिप्त हो जाती है; बाह्य प्रवृत्तिमें उतना रस नहीं है कि जिससे वह प्रवृत्ति चले। अंतरमें स्वरूपाकार परिणतिसे विरुद्ध उपयोग अधिक समय नहीं चल सकता।

इतना ही नहीं लिखित वचनोंके साथ ज्ञानमें समस्त परमार्थमार्गकी सन्धियुक्त अनेक दूसरे पहलू भी उत्पन्न होते हैं, जो वचनमें अध्याहार रहनेसे, पढ़नेवालेको उन वचनोंका यथार्थरूपसे ग्रहण होना दुष्कर हो, इस वजहसे भी लिखनेकी वृत्ति संकुचितताको प्राप्त होती है। यदि अनेक पहलूओंका विस्तार किया जाये, तो उसमें भी पढ़नेवालेकी योग्यता और क्षयोपशमसे उच्च कोटिका विषय हो तो भी समझना कठिन पड़े या तो समझमें ही नहीं आये।

ऐसे अनेक कारणोंसे पत्रोंका उत्तर एवम् कई दफा तो पत्रोंकी पहुँच भी नहीं लिख पाते हैं।



## पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- वचनामृतमें आपने कहा है कि तीक्ष्ण एवं उग्र पुरुषार्थ करना चाहिये, तो हम अधिक पढ़ें सत्संग करें या ध्यान धरें ?

समाधान :- अंतरकी परिणतिका विशेष पुरुषार्थ करें। उसमें जहाँ रुचि लगे वह करें। परिणतिको यदि पठन लाभदायी लगे तो पढ़नेमें लगे। विचारमें अधिक लाभ दिखाई दें तो उसमें लगता, और सत्संगमें लाभ हो तो सत्संग करें। अंतरमें पुरुषार्थकी-ज्ञायकधाराकी-उग्रता कैसे हो, अपने चैतन्यके प्रति मेरी परिणति कैसे दृढ़ हो ? मेरी प्रतीति दृढ़ हो कि यह मैं चैतन्य ही हूँ। यह मैं नहीं हूँ-यही एक उसके पुरुषार्थका ध्येय है। उस ध्येयपूर्वक जहाँ-जहाँ अपने परिणामको ठीक लगे, जहाँ परिणाम स्थिर हो सके और उनमें वृद्धि हो-ऐसे कार्योंमें युक्त होना। ध्यानमें ठीक लगता हो तो ध्यान धरना; परन्तु यथार्थ ध्यान तो ज्ञानपूर्वक होता है। अपने स्वभावको विचार करके पहिचाने कि यह जो ज्ञायक सो मैं हूँ। फिर उसमें एकाग्र होनेका प्रयत्न करना। एकाग्रता वह उसका ध्यान है। यदि ध्यानसे उग्रता होती हो तो ध्यान करना, परन्तु वह ध्यान ज्ञानपूर्वक होना चाहिये। बिना समझे ध्यान करे या विकल्प छोड़नेका प्रयत्न करे, अर्थात् कहाँ खड़े रहना है, उसके भान बिना और अपने अस्तित्वको ग्रहण किये बिना ध्यान करे तो लाभ नहीं होता। पहले समझकर ध्यान करे कि यह चैतन्य सो मैं हूँ। यह मैं नहीं हूँ। फिर उसमें एकाग्र होनेका तीक्ष्ण पुरुषार्थ करे तो एकाग्रताका लाभ हो। वह यथार्थ समझपूर्वक होना चाहिये। यथार्थ ज्ञान करनेके लिये प्रथम विचारके साथ पठन, सत्संग हो, फिर एकाग्रताके लिये ध्यान करना। परन्तु वह ध्यान समझपूर्वक होना चाहिये।

(स्वानुभूतिदर्शन-३२८)



प्रश्न :- पुरुषार्थकी मंदतामेंसे तीव्रता करनेके लिये क्या करना ?

समाधान :- पुरुषार्थकी तीव्रता स्वयंको ही करनेकी है। स्वयंकी जरूरत स्वयंको ही ज्ञात होती है कि मुझे अपने स्वभावकी ही जरूरत है, दूसरी कोई जरूरत नहीं है। यह सब है वह अनावश्यक है। मुझे तो स्वभाव चाहिये उसमें सब भरा है। यदि इस प्रकार उसकी जरूरत लगे तो उसके पुरुषार्थकी तीव्रता हो। इस मनुष्य भवमें गुरुदेव मिले ! अब मुझे पलटना ही है !-ऐसे अपनी जरूरत लगे, तो उसकी रुचि तीव्र हो। जिज्ञासुको अभी भले एकत्वबुद्धि नहीं टूट रही है, परन्तु वारंवार तोड़नेका अभ्यास करे तो स्वयं जागृत हुए बिना रहता ही नहीं। बच्चा जब चलनेका सीख रहा हो, तब इधर उधर गिरता है परन्तु वारंवार अभ्यास करता है। वैसे ही स्वयं अपनी ओर जानेके लिये वारंवार अभ्यास करना कि मुझे यह कुछ नहीं चाहिये। गुरुदेवने कहा है कि तू चैतन्य है। और चैतन्यको पहिचान, उसमें लीन हो। वह करने योग्य कार्य है। यदि उसकी जरूरत लगे तो वारंवार अभ्यास करता ही रहे। यथार्थ अभ्यास करे तो उसका फल आये बिना रहता ही नहीं।

(स्वानुभूतिदर्शन-३२९)



प्रश्न :- मेढक जैसे तिर्यचको भी क्षणमें सम्यक्त्व हो जाता है। यह तो चमत्कार ही कहा जायेगा ?

समाधान :- उसकी परिणति इतनी जोरदार उपड़ती है कि अंतर्मुहूर्तमें पलट जाती है। भले ही मेढक तिर्यच है। किन्तु अंतर्मुहूर्तमें ऐसी उग्र परिणति होती है कि अंतर्मुहूर्तमें पलट जाती है। कितनोंको अभ्यास करते-करते पलटती है। चैतन्यचक्रकी दिशा परकी ओर थी वह दिशा अंतर्मुहूर्तमें पूरी पलट जाती है। अंतरमें चैतन्यकी कोई अद्भुत शक्ति है ! अचिंत्य चैतन्यदेव ही ऐसा है कि पलटे तो अपनेसे अंतर्मुहूर्तमें पलटता है। और नहीं पलटे तो अनन्तकाल बीत जाये ऐसा है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३३०)



---

आत्मयोगी, मुमुक्षुजीवों के परम तारणहार सौम्यमूर्ति  
पूज्य भाईश्री शशीभाई के वार्षिक समाधिदिन पर  
श्रद्धासुमन सहित कोटि कोटि प्रणाम



हे करुणासिंधु ! इस निकृष्टकाल में स्वानुभूतिमय मोक्षमार्गपर्यंत पहुँचने के लिये आत्मउन्नति का प्रशस्त क्रम निष्कारण करुणताशीलतावश प्रकाशकर हमारे पथप्रकाशक बनकर निर्भ्रांतदर्शन का मार्ग बतलाकर अपूर्व और अनुपम उपकार किया है। उसे वाणी द्वारा व्यक्त करना अशक्य और असंभव है। फिर भी आपके स्मृतिदिन पर आपके उपकारों को हृदयगत करके आत्महित को साधे यही भावना है।

मन-वचन-काय योग से जाने-अनजाने में जो कोई विराधना, अशातना, अपराध हुए हैं उन सबकी शुद्ध अंतःकरणपूर्वक क्षमा याचते हैं। आप परमकृपालु परमदयालु के चरणों में शुद्धचित्त से नमस्कार हो, नमस्कार हो।

- स्वानुभूतिप्रकाश परिवार